जैन श्रमण-परम्परा का धर्म-दर्शन

पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

संस्कृत-साहित्य में जिसे 'श्रमण' पद से अभिहित किया गया है,[1] मूल में वह 'समण' संज्ञापद है,[2] उसके संस्कृत छायारूप तीन होते हैं[3]—शमन, श्रमण और समन ! श्रमणों—जैन साधुओं की चर्या इन तीनों विशेषताओं को लिये होती है। जिन्होंने पञ्चेन्द्रियों को संवृत कर लिया है, कषायों पर विजय प्राप्त कर ली है, जो शत्रु-मित्र, दुःख-सुख, प्रशंसा-निन्दा, मिट्टी-सोना तथा जीवन-मरण में समभाव-संपन्न हैं, और जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की आराधना में निरंतर तत्पर हैं, वे श्रमण हैं और उनका धर्म ही श्रमण धर्म है।[4] वर्तमान में जिसे हम जैन धर्म या आत्मधर्म के नाम से संबोधित करते हैं, वह यही है। यह अखण्ड भाव से श्रमण संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है।

लोक में जितने भी धर्म प्रचलित हैं उनका लिखित या अलिखित दर्शन अवश्य होता है। इसका भी अपना दर्शन है जिसके द्वारा श्रमण धर्म की नींव के रूप में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की अक्षुण्ण भाव से प्रतिष्ठा की गयी है। इसे समझने के लिए इसमें प्रतिपादित तत्त्व-प्ररूपणा को हृदयंगम कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। जैसा कि समग्र आगम पर दृष्टिपात करने से विदित होता है, इसमें तत्त्व-प्ररूपणा के दो प्रकार परिलक्षित होते हैं—एक लोक की संरचना के रूप में तत्त्व-प्ररूपणा का प्रकार, और दूसरा मोक्ष-मार्ग की दृष्टि से तत्त्व-प्ररूपणा का प्रकार। ये दोनों ही प्रकार एक-दूसरे के इतने निकट हैं जिससे इन्हें जुदा नहीं किया जा सकता, केवल प्रयोजन-भेद से ही तत्त्व-प्ररूपणा को दो भागों में विभक्त किया गया है।

प्रथम प्ररूपणा के अनुसार जाति की अपेक्षा द्रव्य छह हैं। वे अनादि, अनन्त और अकृत्रिम हैं। उन्हींके समुच्चय का नाम 'लोक' है। इसलिए जैन दर्शन में लोक भी स्वप्रतिष्ठ और अनादि-अनंत है। छह द्रव्यों के नाम हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश। इनमें काल द्रव्य सत्स्वरूप होकर भी शरीर के प्रमाण बहु-प्रदेशीय नहीं है। इसलिए उसे छोड़कर शेष पांच द्रव्य अस्तिकाय हैं। पुद्गल द्रव्य शक्ति या योग्यता की अपेक्षा बहुप्रदेशीय है।

संख्या की दृष्टि से जीव-द्रव्य अनंत हैं, पुद्गल-द्रव्य उनसे अनंतगुणे हैं; धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य एक-एक हैं और काल-द्रव्य असंख्य हैं।

ये सब द्रव्य स्वरूप-सत्ता की अपेक्षा भिन्न-भिन्न हैं। फिर भी इन सबमें घटित हो ऐसा इनका एक सामान्य लक्षण है, जिस कारण ये सब 'द्रव्य' पद द्वारा अभिहित किये गये हैं। वह है—"उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्। सद् द्रव्यलक्षणम्।"[5] जो सत्स्वरूप हो वह द्रव्य है, या सत्स्वरूप होना द्रव्य का लक्षण है। यहां सत् और द्रव्य में लक्ष्य और लक्षण की अपेक्षा भेद स्वीकार करने पर भी वे सर्वथा दो नहीं हैं, एक हैं—चाहे सत् कहो या द्रव्य, दोनों का अर्थ एक है। इसी कारण जैन दर्शन में अभाव को सर्वथा अभाव-रूप में स्वीकार करके भी उसे भावान्तर स्वभाव स्वीकार किया गया है।[6]

नियम यह है कि सत् का कभी नाश नहीं होता, और असत् का कभी उत्पाद नहीं होता। ऐसा होते हुए भी वह सत् सर्वथा कूटस्थ नहीं है—क्रियाशील[7] है। यही कारण है कि प्रकृत में सत् को उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप में त्रयात्मक स्वीकार किया गया है।

---

१. येषां च विरोधः शाश्वतिकः, इत्यस्यावकाशः श्रमणब्राह्मणम्। पातंजल भाष्य, २/४/६

२. प्रवचनसार, गा० ३/२६

३. पाइयसद्दमहण्णवो (कोश), समण शब्द, पृ० १०८३

४. प्रवचनसार, गा० ३/४०-४२

५. तत्त्वार्थसूत्र, ५/२९-३०

६. भवत्यभावोऽपि हि वस्तुधर्मः। युक्त्यनुशासन —५९

७. प्रवचनसार, गा० २/८-१२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपने अन्वय-स्वभाव के कारण जहां वह ध्रुव है, वहीं व्यतिरेक पर्यायरूप धर्म के कारण वही उत्पाद-व्यय स्वरूप है।[1] इन तीनों में काल-भेद नहीं है।[2] जिसे हम नवीन पर्याय का उत्पाद कहते हैं, यद्यपि वही पूर्व पर्याय का व्यय है, पर इनमें लक्षण-भेद होने से ये दो स्वीकार किये गये हैं।[3] इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य एक ही काल में त्रयात्मक है, यह सिद्ध होता है।

इस त्रयात्मक द्रव्य में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये तीनों ही उसके अंश सत् हैं। इनमें कथंचित् अभेद है क्योंकि तीनों की सत्ता एक है। जो तीनों में से किसी एक की सत्ता है वही अन्य दो की है। यह द्रव्य का सामान्य आत्मभूत लक्षण है। इससे प्रत्येक द्रव्य परिणामी नित्य है—यह सिद्ध होता है, क्योंकि समय-समय जो उत्पाद-व्यय होता है वह उसका परिणामीपना है, और ऐसा होते हुए भी वह अपने ध्रुव-रूप मूल स्वभाव को कभी नहीं छोड़ता, उसके द्वारा वह सदा ही उत्पाद-व्यय रूप परिणाम को व्यापता रहता है—यह उसकी नित्यता है। आगम में प्रत्येक द्रव्य को जो अनेकान्त-स्वरूप कहा गया है, उसका भी यही कारण है।

द्रव्य में उत्पाद-व्यय ये कार्य हैं। वे कैसे होते हैं, यह प्रश्न है—स्वयं या पर से? किसी एक पक्ष को स्वीकार करने पर एकान्त का दोष आता है, उभयतः स्वीकार करने पर जीव का मोक्ष स्वरूप से अर्थात् परमार्थ से कथंचित् स्वाश्रित है और कथंचित् पराश्रित है, ऐसा मानना पड़ता है।

समाधान यह है कि किसी भी द्रव्य को अन्य कोई बनाता नहीं है, वह स्वयं होता है। अतः उत्पाद-व्यय रूप कार्य को प्रत्येक द्रव्य स्वयं करता है—यह सिद्ध होता है। वही स्वयं कर्ता है, और वही स्वयं कर्म है। करण, संप्रदान, अपादान और अधिकरण भी वही स्वयं है। अविनाभाव सम्बन्धवश उसकी सिद्धि मात्र 'पर' से होती है, इसलिए उसे कार्य का उपचार से साधक कहा जाता है। पर ने किया, यह व्यवहार है, परमार्थ नहीं; क्योंकि पर ने किया, इसे परमार्थ मानने पर दो द्रव्यों में एकत्व की उत्पत्ति आती है जो युक्ति-युक्त नहीं है। अतः प्रकृत में अनेकांत इस प्रकार घटित होता है।

उत्पाद-व्यय कथंचित् स्वयं होते हैं क्योंकि वे द्रव्य के स्वरूप हैं। कथंचित् पर से होने का भी व्यवहार है, क्योंकि अविनाभाव सम्बन्धवश 'पर' उनकी सिद्धि में निमित्त है।[4]

जैन धर्म में प्रत्येक द्रव्य को स्वरूप से जो स्वाश्रित (स्वाधीन) माना गया है, उसका कारण भी यही है। जीव ने पर में एकत्व-बुद्धि करके अपने अपराध-वश अपना भव-भ्रमणरूप राग-द्वेष-मोह स्वरूप संसार स्वयं बनाया है। कर्म-रूप पुद्गल-द्रव्य का परिणाम उसके अज्ञानादि-रूप संसार का परमार्थ-कर्ता नहीं होता। पर पर को करे, ऐसा वस्तु-स्वभाव नहीं है। आत्मा स्वयं अज्ञानादि-रूप परिणाम को जन्म देता है, इसलिए वह स्वयं उसका कर्ता होता है। फिर भी इसके जो ज्ञानावरणादिरूप पुद्गल-कर्म का बन्ध होता है, उस सम्बन्ध में नियम यह है कि प्रति समय जैसे ही यह जीव स्वरूप से भिन्न पर में एकत्वबुद्धि या इष्टानिष्टबुद्धि करता है, वैसे ही ज्ञानावरणादि-रूप परिणमन की योग्यता वाले पुद्गल-स्कंध स्वयं उससे एकक्षेत्रावगाह रूप बंध को प्राप्त होकर फल-काल के प्राप्त होने पर तदनुरूप फल देने में निमित्त होते हैं। जीव-कर्म का यह बन्ध अनादि-काल से निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धवश स्वयं बना चला आ रहा है। वह इसके अनादिपन में निमित्त नहीं होता।

पहले हम जिन छह द्रव्यों का निर्देश कर आये हैं उनमें से चार द्रव्य तो सदा अपने स्वभाव के अनुकूल ही कार्य को जन्म देते हैं। शेष जो जीव और पुद्गल दो द्रव्य हैं, उनमें से पुद्गल का स्वभाव तो ऐसा है कि यह कदाचित् मूल स्वभाव में रहते हुए भी बंध के अनुकूल अवस्था के होने पर दूसरे पुद्गल के साथ नियमानुसार बंध को प्राप्त हो जाता है, और जब तक वह इस अवस्था में रहता है, तब तक अपने इकाईपने से विमुख होकर स्कंध संज्ञा से व्यवहृत होता रहता है।

इसके अतिरिक्त जो जीव है, उसका स्वभाव ऐसा नहीं है कि वह स्वभाव से स्वयं को कर्म से आबद्ध कर दुर्गति का पात्र बने। अनादि से वह स्वयं को भूला हुआ है। उसकी इस भूल का ही परिणाम है कि वह दुर्गति का पात्र बना चला आ रहा है। उसे स्वयं में यही अनुभव करना है और उसके मूल कारण के रूप में अपने अज्ञान-भाव और राग-द्वेष को जानकर उनसे मुक्त होने का उपाय करना है। यही वह मुख्य प्रयोजन है जिसे ध्यान में रखकर जिनागम में तत्त्व-प्ररूपणा का दूसरा प्रकार परिलक्षित होता है।

आत्मानुभूति, आत्मज्ञान और आत्मचर्या—इन तीनों रूप-परिणत आत्मा स्वयं ही मोक्ष-मार्ग है। उनमें सम्यग्दर्शन मूल है। 'दंसणमूलो धम्मो,'[5]—इसी प्रयोजन से जीवादि नौ पदार्थ या सात तत्त्व[6] कहे गए हैं। इनमें आत्मा मुख्य है। विश्लेषण द्वारा उसके मूल

१. सर्वार्थसिद्धि, ५/३०
२. प्रवचनसार, गा० २/१०
३. आप्तमीमांसा, का० ५८
४. वही, का० ७५
५. समयसार, गा० १३
६. तत्त्वार्थसूत्र, १/४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वरूप पर प्रकाश डालना इस कथन का मुख्य प्रयोजन है। उसी से हम जानते हैं कि मैं चिन्मात्र-ज्योति स्वरूप अखण्ड एक आत्मा हूं। अन्य जितनी उपाधि है वह सब मैं नहीं हूं। वह मुझसे भिन्न है। इतना ही नहीं, वह यह भी जानता है कि यद्यपि नर-नारकादि जीव विशेष, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष स्वरूप इन नौ पदार्थों में मैं ही व्यापता हूं।[1] जीवन के रंग-मंच पर कभी मैं नारकीय बनकर अवतरित होता हूं तो कभी मनुष्य बनकर; कभी पुण्यात्मा की भूमिका निभाता हूं तो कभी पापी आदि की, इतना सब होते हुए भी मैं चिन्मात्र ज्योति-स्वरूप अपने एकत्व को कभी नहीं छोड़ता हूं। यही वह संकल्प है जो इस जीव को आत्म-स्वतन्त्रता के प्रतीक-स्वरूप मोक्ष-मार्ग में अग्रसर कर आत्मा का साक्षात्कार कराने में समर्थ होता है। ज्ञान-वैराग्य-सम्पन्न मोक्ष-मार्ग के पथिक की यह प्रथम भूमिका है।

यह जीवों के आयतन जानकर पांच उदुंबरफलों तथा मद्य, मांस और मधु का पूर्ण त्यागी होता है। इनके त्याग को आठ मूल-गुण कहते हैं[2] जो इसके नियम से होते हैं। साथ ही वीतराग देव, निर्ग्रन्थ गुरु और वीतराग वाणी-स्वरूप जिनागम इसके आराध्य होते हैं।[3] यह आजीविका के ऐसे ही साधनों को अपनाता है जिनमें संकल्पपूर्वक हिंसा की सम्भावना न हो।[4] जैसे वन-दाह, तालाब से मछली पकड़ कर आजीविका करना, आदि।

दूसरी भूमिका का श्रमणोपासक व्रती होता है। व्रत बारह हैं—पांच अणुव्रत, तीन गुण-व्रत और चार शिक्षा-व्रत।[5] यह इनका निर्दोष विधि से पालन करता है। कदाचित् दोष का उद्भव होने पर गुरु की साक्षीपूर्वक लगे दोषों का परिमार्जन करता है और इनमें उत्तरोत्तर वृद्धि करते हुए उस भूमिका तक वृद्धि करता है जहां जाकर लंगोटी मात्र परिग्रह शेष रह जाता है।

तीसरी भूमिका श्रमण की है। यह महाव्रती होता है। यह वन में जाकर गुरु की साक्षीपूर्वक जिन व्रतों को स्वीकार करता है उन्हें गुण कहते हैं। वे २८ होते हैं—५ महाव्रत, ५ समिति, ५ इंद्रियजय, ६ आवश्यक और ७ शेष गुण।[6] शेष गुण, जैसे खड़े होकर दिन में एक बार भोजन-पानी लेना, दोनों हाथों को पात्र बनाकर लेना, केश लुंचन करना, नग्न रहना आदि।

इसके जितना भी कार्य होता है, उसे वह स्वावलंबनपूर्वक ही करता है, मात्र इसलिए ही हाथों को पात्र बनाकर आहार ग्रहण करता है, हाथों से ही केशलुंच करता है। रात्रि में भूमि पर एक करवट से अल्पनिद्रा लेता है, आदि।

यह सब इसलिए नहीं किया जाता है कि शरीर को कष्ट दिया जाए। शरीर तो जड़ है, कुछ भी करो, उसे तो कष्ट होता नहीं। यदि कष्ट होता भी है तो करने वाले को ही हो सकता है। किन्तु श्रमण का राग-द्वेष के परवश न होकर शरीर से भिन्न आत्मा की सम्हाल करना मुख्य प्रयोजन होता है, इसलिए वे सब क्रियाएं उसे, जिन्हें हम कष्टकर मानते हैं, कष्टकर भासित न होकर अवश्य-करणीय भासित होती हैं।

यह जैन धर्म-दर्शन का सामान्य अवलोकन है। इसे दृष्टि-पथ में लेने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इसका मुख्य प्रयोजन वेद, ईश्वरकर्तृत्व और यज्ञीय हिंसा का विरोध करना पूर्व में कभी नहीं रहा है। इसके मूल साहित्य षट्खण्डागम, कषायप्राभृत, कुंदकुंद द्वारा रचित साहित्य, मूलाचार, रत्नकरंडश्रावकाचार, भगवती-आराधना आदि पर दृष्टिपात करने से उक्त तथ्य स्पष्ट हो जाता है। इसलिए जो मनीषी इसे सुधारवादी धर्म कहकर इसे अर्वाचीन सिद्ध करना चाहते हैं, जान पड़ता है, वस्तुतः उन्होंने स्वयं इन धर्मग्रंथों का ही ठीक तरह से अवलोकन किए बिना अपना यह मत बनाया है। उन्हें यह नहीं भूलना चाहिए कि वर्तमान में भारतीय संस्कृति का जो स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, उसे न केवल ब्राह्मण या वैदिक संस्कृति कहा जा सकता है, और न ही श्रमण-संस्कृति कहना उपयुक्त होगा। यह एक ऐसा तथ्य है जिसे स्वीकार कर लेने पर श्रमण-संस्कृति से अनुप्राणित होकर भारतीय संस्कृति में जो निखार आया है, उसे आसानी से समझा जा सकता है।

इससे जिन तथ्यों पर विशेष प्रकाश पड़ता है, वे निम्न हैं—

(१) इसमें सदा से प्रत्येक द्रव्य का जो स्वरूप स्वीकार किया गया है, उसके अनुसार जड़-चेतन, प्रत्येक द्रव्य में अर्थक्रिया-कारीपना सिद्ध होने से, व्यतिरेक रूप में परमार्थ से परकर्तृत्व का स्वयं निषेध हो जाता है।

(२) व्यक्ति अपने जीवन में वीतरागता अर्जित करे—यह इस धर्म-दर्शन का मुख्य प्रयोजन है। अहिंसा-आदि वीतरागता का ही दूसरा नाम है, तथा व्यवहार-रूप में वे उसके बाह्य साधन हैं। मात्र इसीलिए जैन धर्म में अहिंसा आदि को मुख्यता दी गई है। यज्ञादि-विहित हिंसा का निषेध करना इसका मुख्य प्रयोजन नहीं है। जीवन में अहिंसा के स्वीकार करने पर उसका निषेध स्वयं हो जाता है।

ये कतिपय तथ्य हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि सुधारवाद की दृष्टि से जैन धर्म की संरचना नहीं हुई है। वह सनातन है। भारतीय जन-जीवन पर उसकी अमिट छाप है, और यह स्वाभाविक भी है क्योंकि जो पड़ोसी होते हैं उनमें आदान-प्रदान न हो—यह नहीं हो सकता।

---

१. समयसारकलश, ७
२. सागारधर्मामृत, २/३
३. रत्नकरण्डश्रावकाचार, ४
४. सागारधर्मामृत, १/१३-१४
५. वही, अ० २ व ५
६. प्रवचनसार, गा० ३/८-९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org